TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

TIGHT BINGING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180394

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82/S566 Accession No. 6.H2452

Author सिद्धनाथ कुमार ।

Title कवि । 1951

This book should be returned on or before the date last marked below.

कवि

(गीतिनाट्य)

लेखक की शीघ्र प्रकाशित होनेवाली कृतियाँ

साधना के चरण (कविता-संग्रह)

लौह-देवता (गीतिनाट्य)

जीवन (गीतिनाट्य)

रेडियो-नाटक: सिद्धांत और प्रयोग

कवि

(गीतिनाट्य)

सिद्धनाथ कुमार

प्रथम संस्करण, १६५१

सर्वाधिकार लेखक के अधीन

मूल्य १।)

मुद्रक
रमेश प्रिंटिंग वर्क्स,
पटना।

दो शब्द

श्री सिद्धनाथ कुमार अब तो प्रोफेसर और कवि हैं; पर मैं उन्हें छात्रावस्था से ही जानता हूँ। विद्यार्थी के रूप में भी वे अत्यन्त प्रतिभाशाली और साहित्यानुरागी थे, अब स्वाध्यायशील अध्यापक के रूप में वे कवि और नाट्यकार भी हैं। अनेक संभावनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं के साथ साहित्य-क्षेत्र में उनका आशामय प्रवेश अभिनंदनीय है।

हिंदी में गीतिनाट्यों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ रही है। भाव और भाषा के सौंदर्य और सौकुमार्य की दृष्टि से 'कवि' एक मनोहर गीतिनाट्य है। इसमें कवि अथवा साहित्यकार के जीवन से संलग्न और उसकी विचारशीलता के समक्ष उपस्थित महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विवेचन एवं समाधान किया गया है। नाट्यकार की दृष्टि कल्पना के सूक्ष्म आकाश की ओर न होकर लोकहित के ठोस धरातल पर है, यह नवयुग की पुकार और प्रवृत्ति के अनुकूल ही है।

इस गीतिनाट्य की रचना-शैली प्राञ्जल है। वर्त्तमान युग की ज्वलंत समस्याओं के प्रति नाट्यकार की हार्दिक सहानुभूति इसमें स्पष्ट लक्षित होती है। समाज के जो आवश्यक अंग हैं, पर जो अभावग्रस्त और उपेक्षित हैं, उनके प्रति साहित्य-स्रष्टा कवि की वाणी एवं अनुभूति को प्रेरित करने में रचयिता को सफलता मिली है। ईश्वर उन्हें यशस्वी करें।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—पावस, सम्वत् २००८

शिवपूजन सहाय

अपनी बात

'कवि' गीतिनाट्य आपके सम्मुख है। इसकी रचना सन् १९४८ में हो हुई थी, उसी वर्ष यह ऑल इंडिया रेडियो, पटना से प्रसारित हुआ था, यद्यपि उसके वर्त्तमान रूप में उस समय के रूप से पर्याप्त अंतर है।

'कवि' में मैंने काल्पनिकता और वास्तविकता का जो संघर्ष अंकित किया है, वह मेरे मन का संघर्ष है, लेकिन मैंने अनुभव किया है कि वह मेरा अपना ही संघर्ष नहीं, विशेष रूप से इस युग के तथा सामान्य रूप से प्रत्येक युग के कलाकारों के अंतर में उठने-वाली भावनाओं का संघर्ष है। कवि की यह समस्या कि वह जन-जीवन से निरपेक्ष स्वप्निल नील नगन में ही आनन्द से विचरण करे अथवा युग की अस्त-व्यस्त परिस्थितियों के प्रति जागरूक होकर उनके पुनर्निर्माण का प्रयत्न करे, बहुत महत्त्वपूर्ण है। मैंने इसी प्रश्न को युग की समस्याओं की पृष्ठभूमि पर उपस्थित करने का प्रयास किया है। मैं नहीं कहता कि जिस निष्कर्ष पर मैं पहुँच चुका हूँ वह सत्य ही है, लेकिन मेरा विश्वास है कि संसार के महान् साहित्यकारों की रचनाओं से उसकी पुष्टि होगी, क्योंकि कोई भी महान् कलाकार अपने युग से विमुख नहीं रहा।

चूँकि 'कवि' की उपयुक्त समस्या हिंदी के छायावाद-काल से भी संबंधित है, मैंने कल्पना के प्रसंग में छायावाद-युग में प्रचलित कुछ प्रिय शब्दों का प्रयोग जानबूझ कर किया है। अतः जिन कवियों की शब्दावलियों की स्थान-स्थान पर मैंने शरण ली है, उनका ऋणी हूँ।

जिन विद्वानों ने अपने परामर्श एवं सम्मतियों से मुझे सहायता दी है तथा जिन्होंने 'कवि' के माध्यम से वर्त्तमान कवि की समस्या एवं हिंदी गीतिनाट्य के स्वरूप-विधान के संबंध में अपने वक्तव्य दिए हैं, उन सबका आभारी हूँ।

पुस्तक को प्रकाश में लाने का सब श्रेय अपने प्रिय बंधु श्री अच्युतानन्द प्रसाद सिन्हा, श्री जगन्नाथ प्रसाद और श्री रामनाथ प्रसाद को ही है, फिर भी सम्बन्ध की निकटता कृतज्ञता-प्रकाशन की ओर नहीं बढ़ने देती।

सहनीपट्टी, बक्सर
जून, १९५१

सिद्धनाथ कुमार

युग की मर्मवेधिनी वाणी
बुला रही है जिसे विकल हो,
युग के जागरूक उस कवि को—

प्रथम दृश्य

[संध्या का समय। सरिता के किनारे एक ऊँचे टीले पर बैठा हुआ कवि कुछ चिंतित भाव से सोच रहा है। उधर सरिता के उस पार क्षितिज के कुछ ऊपर रंगीन बादलों की रेखाएँ नव-नव चित्रों का निर्माण कर रही हैं। दो श्यामल बादलों की धारियों के बीच संध्या-तारा चमक रहा है। नीचे सरिता का जल कल-कल की मंद मधुर ध्वनि के साथ बह रहा है। बगल के मधुमय कुंज से पक्षियों का कलरव सुनाई पड़ रहा है। कवि कभी विस्मय से, कभी चिंता से चारों ओर दृष्टि फेरता है, पर उसे कहीं स्थिर नहीं कर पाता।]

कवि (धीरे-धीरे)—

यह छायावन,
सुषमा की पखड़ियाँ बिखेर

कवि

दिशि-दिशि में
है आनद-मग्न,
गा रहा विहग-कल-कूजन के
शत-शत गायन !
नव छवि,
नव मधु से रँगे भ्रमर,
है गूँज रहे
बन कर मर्मर !
पर मेरा मन
इस मधुवन की माया में
पल भर शांत न हो पाता क्यों कर ?
है क्षितिज-प्रांत में जाग रहा
वह नीरव एकाकी तारा
उज्ज्वल, अमद,
मन में ले अगणित स्वर्ण-स्वप्न,
जैसे मेरा
एकाकीपन हो स्वयं वहाँ
साकार हुआ !

[उसी समय स्वर्णिम अंचल का छोर उड़ाती हुई दूर से छाया की भाँति एक नारी-मूर्त्ति आती दिखाई देती है। कवि विस्मय से उस ओर देखता है।]

कवि—वह कौन
'मेघमय आसमान से
उतर रही,'
'नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह-सी अंबर-पथ से चली ?'
वह कौन कि जो
अंतर में पूनो के शशि-सी
है ज्वार उठाती बार-बार ?
वह कौन परी,
जो नूतन कलिका-सी
आकर्षक, स्निग्ध, मधुर,
जो अनुपम मदिरा-सी
मादकता बरसाती,
अपने अंचल को फहराती
इस शून्य विजन में
उतर रही मंथर गति से ?

[वह नारी-मूर्त्ति कल्पना कवि के सम्मुख आ धीरे से बैठ जाती है और उसकी ओर मादक दृष्टि से देखती है। कवि चकित रह जाता है। दोनों की आँखें मिल जाती हैं। कवि का रोम-रोम एक विचित्र उमंग से भर जाता है। वह मूक हो कल्पना की ओर देखने लगता है।]

कल्पना (मुस्कान के साथ)—

कवि, क्यों अशांत,
यों मुग्ध और हतवाक हुए ?

कवि—मैं मुग्ध आज
हो रहा देख कर तुम्हें देवि !
तुम कौन, परी-सी संध्या की
हो उतर पड़ी
इस धरती पर ?
तुम कहो, कौन ?
किस स्वर्ग-लोक से आई हो ?
तुम कौन ? स्वप्न हो ? विस्मय हो ?

कल्पना—ओ मेरे कवि,
आश्चर्य-चकित
तुम हो न तनिक !

कवि—आश्चर्य-चकित सचमुच हूँ मैं,
ऐसी छवि देखी थी न कभी
मैंने जग में।
तुम सुंदरता साकार स्वयं
सम्मुख मेरे।
मैं देख रहा,
इन अधरों की मुस्कान
लालिमा बन
बिखरी सब ओर!
तुम्हारे कच का
बंधन खोल
सूँघता है सौरभ वातास!
तुम्हारे स्वर का
मधुमय गीत
बन रहा विहगों का कलगान!
तुम्हारी चंचलता छविमान,
बन रही है
लहरों का लास!
कौन-सी अप्सरि हो तुम देवि?

कल्पना—तुम पूछ रहे परिचय मुझसे,
ओ परिचित कवि,
क्या सचमुच ही
हो तुम न मुझे पहचान रहे ?
कवि - तुम कहती हो
परिचित मुझको,
पर मुझको तो
तुम उस रहस्य-सी दीख रही,
जिसका चंचल
मृदु पुलक गात
है चल लहरों पर मचल रहा,
जिसकी आभा
है बिखर रही
हिमकर की रजत ज्योत्स्ना में।
मेरे रहस्य की सुभग देवि,
मेरे सम्मुख तो खुल जाओ।
कल्पना—ओ कवि,
मैं खुली हुई ही हूँ !
मैं मलय वायु-सी फिरती हूँ

कवि

अग-जग के विस्तृत प्रांगण में,
नभ में, सरिता में, सागर में।
मृदु इंद्रधनुष के पंखों पर
धर चपल चरण
उस अमर लोक के तारों से
इस धरती के तारों को भी
मैं जोड़ा करती हूँ प्रतिपल।
इन अर्द्ध-निमीलित नयनों की
कोरों से मैं
आकाश और
पृथिवी को करती एक तार!
मैं पार क्षितिज के
जाकर देखा करती हूँ,
है कौन रहस्य मनोहर वह,
जो बिखराया करता
ऊषा पर रक्तिम आभाएँ नव-नव!
है कौन रहस्य मनोहर वह,
जो परिवर्त्तन के खेलों से
है खेल किया करता क्षण-क्षण!

मैं सतरंगे मेघों के सँग
उड़-उड़ करके
हूँ वहाँ पहुँच जाती,
जिसके आगे है राह नहीं मिलती।

कवि—तुम तो तब हो
सचमुच रहस्य !

कल्पना—तुम भूल रहे
ओ मेरे कवि,
जिस छायावन के वासी तुम,
मैं ही तो उसकी रानी हूँ।

कवि—तुम मेरे मधुवन की रानी !
क्या सच है यह ?
तुम वही परी ?
जिसको मैंने देखा है
अबतक बहुत बार
निज स्वप्नों के जग में मनहर !
थी जिसकी मूर्त्ति प्रतिष्ठित की
मैंने अपने
मानस के मंदिर में उज्ज्वल !

कह दो अप्सरि,
सचमुच मेरे
क्या सपने सब साकार हुए ?

कल्पना—साकार हुए सचमुच प्रिय, वे !
पर सपने वे ?
वे स्वप्न न थे।
सब कुछ तो था बस सत्य,
सत्य ही आई थी
मैं स्वप्नों के सौंदर्य-देश में !
था न नया कुछ वह सब,
हम तो ठहरे
युग-युग के परिचित, चिर-संगी !

कवि—पर मैं तो सोच रहा था यह,
मैं एकाकी !

कल्पना—कवि, एकाकी ?
क्या कहते हो ?
तुम अपने अंतरतम के
पट को खोल जरा
देखो, तो होगा ज्ञात तुम्हें

हम संगी जन्म-जन्म के हैं।

कवि—हाँ, रहस्य का गहन तिमिर है
फटता जाता,
औ' अतीत, धुँधले अतीत से
स्मृतियों की किरणें आती हैं
सहसा छिन्न-भिन्न करने को
घने आवरण को रहस्य के !
मुझे ज्ञात हो रहा,
तुम्हीं मेरे मानस की देवी हो,
मेरे मधुवन की कोयल हो !

कल्पना - ओ मेरे जीवन के गायक,
हम बहुत दिनों के बाद मिले,
आओ हम दोनों संग चलें,
गाओ तो कोई गीत मधुर !

कवि—मेरे जीवन के नभ में अब
राका मुस्कानें आई हैं !

मैं देख रहा था दिशि-दिशि में
घिरता आता है अंधकार,

कवि

जग-जीवन के विष से अशांत
मैं खोज रहा था अमिय-धार,
यह ज्योति-रश्मि मेरे जग में
अब मधु बरसाने आई है!

जीवन की ज्वाला में जलते
सपने मैं लेकर भागा था,
मृण्मय स्वप्नों के प्राण-हेतु
नभ से करुणा-कण माँगा था,
करुणा की किरणें स्वप्नों को
अब अमर बनाने आई हैं!

उद्वेलित अंतर मचल रहा,
सम्मुख है अब संसार नया,
आनंद लुटाती निर्झरिणी,
कलिका देती उपहार नया,
अब नए गीत मेरे स्वर में
यह कोयल गाने आई है!

द्वितीय दृश्य

[एक छोटा-सा कुंज। प्रभात की सुनहली किरणें झुरमुटों से होती हुई भीतर आ रही हैं। वृक्षों की पत्तियाँ और लताएँ पवन के साथ धीरे-धीरे हिल रही हैं। रह-रह कर पक्षियों का कलरव सुनाई पड़ता है। कवि और कल्पना एक ओर हरी घास पर बैठे हैं।]

कवि—रानी,
तुम सोच रही हो क्या ?
कल्पना—मैं सोच रही,
मैं होती यदि
यह चपल किरण
किस भाँति थिरकती मदमाती,
अलमस्ती में गाती
वृक्षों के झुरमुट से
अपने प्रियतम को
झाँक-झाँक मैं छिप जाती !

कवि—और खेलने लगता मैं उन
चंचल स्वर्णमयी किरणों से,
हाथों को फैला करके
करता प्रयत्न
मैं उन्हें पकड़ने को
लेकिन मेरे प्रयास होते असफल !

कल्पना—मैं हँसती, नाच, थिरक उठती
असफलता से होकर प्रसन्न !
क्यों कवि, बोलो !

कवि—क्या कहूँ देवि,
मै भी हँसता
उस हँसने पर।
वह एक तुम्हारा मधुर हास
वरदान अमर कुछ दे जाता,
मैं हो जाता
पागल बेसुध,
बज उठते मेरे तार-तार,
मैं गा उठता उन तारों पर
मस्ती में कोई राग अगर।

तब मेरे स्वर से
ताल मिलातीं
सरिता की लहरें चंचल,
औ' स्वर भरते
इन विहगों के सुंदर कुमार !

कल्पना—कवि, गाते क्या ?
गाओ तो मैं भी सुनूँ ज़रा ।

कवि—गाता क्या,
लो तुम भी सुनलो—

उतर कल्पना-परी व्योम से, खुले दिवा के द्वार !
बिखर गई अंबर के अधरों
पर मधुमय मुस्कान,
सिहर उठीं लतिकाएँ, मचले
जग के विह्वल प्राण,
स्वर्ण-विभा में नहा रहा है स्वप्नों का संसार !

सुमन खड़े हैं भर अंजलि में
अपना मादक हास,

बिखरा रहीं लहरियाँ चंचल
जीवन का उल्लास,
धरा दे रही तुझे मोतियों के असंख्य उपहार !

किरणों के रथ पर चढ़ करतू
उतर अरी छविमान !
पग-पग पर आनंद-दायिनी !
बिखरा अपना दान,
अपनी मृदुल उँगलियों से कर जीवन का शृंगार !
उतर कल्पना-परी व्योम से, खुले दिवा के द्वार !

[कवि के गीत गाते समय ही जीवन अस्त-व्यस्त दशा में कुंज में आता है और उसे गाते हुए देख कर पीछे रुक जाता है, गान समाप्त होने पर आगे आता है।]

जीवन (मुस्कान के साथ)—
कौन कल्पना-परी
कहो कवि,
बुला रहे हो जिसे व्योम से ?

कवि (कल्पना की ओर संकेत करता हुआ)—
बुला रहा हूँ ?
देखो जीवन,
स्वयं व्योम से उतर पड़ी है

यही कल्पना, यही परी
जो मेरे मानस की रानी है !
बहुत दिनों के बाद अचानक
साथी,
मेरे सूने जीवन में इस
मधुर कल्पना रानी का
आगमन हुआ है।

जीवन—पर कवि,
इस सुख का भी तुमने
संवाद सुनाया था न मुझे !

कवि—तुम क्षमा करो
जीवन, मुझको।
कुछ दिन से मेरे अंतर में
है एक उमंग नई आई,
है एक तरंग नई आई,
जिससे मैं मस्ती के
हिलकोरों पर
प्रतिपल बहता रहता हूँ !
साथी,

मैं आनंद-कुंज की
शीतल और घनी छाया में
सदा खेलता ही रहता हूँ,
भूल गया हूँ
सब दुख-हाहाकार जगत के !

जीवन— भूल गए तुम
सब दुख-हाहाकार जगत के ?
मेरे प्रिय कवि,
बात तुम्हारी
चुभने लगी हृदय में मेरे
कठिन शूल-सी।
तुम जग के सुख-दुख के गायक !
भूल गए हो
सब दुख-हाहाकार जगत के ?
तुम जग के उर के मृदु स्पंदन !
कैसे झंकृत होगा,
बोलो,
तारों से अब मृदुल तुम्हारे
जग का क्रंदन,

दुख का गायन ?
भूले हो कवि मादकता में,
सँभलो, देखो !

कल्पना—मादकता में भूला है कवि ?
मादकता के विस्तृत नभ का
पंछी ही कवि,
जो सदा पंख फड़का करके
उड़ता रहता,
उन्मुक्त बना
नीले नभ में;
गाता कुछ अपनी मस्ती में,
अपने मन से।
फिर धरती के बंधन
उसको क्योंकर बाँधें ?

जीवन—ये धरती के बंधन कैसे ?
धरती की मिट्टी से ही तो
निकला था
कवि-उर का अंकुर,
जो पला, बढ़ा

इस धरती पर।
फिर वह क्योंकर
निज फूल और फल को
धरती को दान न दे ?

कल्पना—माना,
कवि धरती का प्राणी,
पर नियम-मुक्त,
वह मुक्त सदा
जग के दुख से,
क्रंदन से, हाहाकारों से !
वह क्यों गाए
जग के गाने,
जब उसे नहीं
इच्छा उसकी ?

जीवन—कवि की असफलता यही,
जगत के क्रंदन-हाहाकार
न छू पाएँ उसको।
कवि की यह बड़ी पराजय है,
यदि गा न सके

कवि

वह जग के सँग,
यदि रो न सके
जग के स्वर में,
यदि मरु-सी जलती धरती पर
अमृत के कण बरसा न सके !

कल्पना— कवि तो ठहरा
आनंद-लोक का अधिवासी,
व्यापार यही उसका
लेना आनंद
जगत के कण-कण से,
देना भी मधु के गीत सरस,
औ' मधुर, स्वप्न से पूर्ण !
और, जगत के
दुख-द्वन्द्वों को छोड़ विचरना
दूर, क्षितिज के पार दूर,
मेघों के पंखों पर चढ़ कर
उन्मुक्त खगों से बाजी ले !
संदेश स्वर्ग के लाने को
वह सदा विचरता रहता है

नभ के वन में !

जीवन—अब बहुत हुआ कल्पना देवि !
खग है कवि क्या,
जो पंखों को फैला कर निज
उड़ता ही रहे नील नभ में ?
लेकिन खग भी सुंदर चंचल
आते हैं नीड़ों में ही निज,
आधार वही तो हैं उनके ।
कवि का भी तो
आधार यही धरती
औ' जग का जीवन है,
है नरक जहाँ,
है स्वर्ग जहाँ !
है स्वर्ग कहाँ,
जग के बाहर,
कवि जहाँ चले
संदेश अनोखे लाने को ?
कवि की वाणी में तो
है इतनी आग भरी,

जो जग की घृणित कलुषता को
कर दे पल में ही क्षार-क्षार,
जो मिट्टी की धरती पर ही
आदर्श स्वर्ग पावन सुंदर
रच दे फिर से !
मैं सत्य नहीं कहता क्या कवि ?

[कवि चौंक कर जीवन की ओर देखता है, पर कुछ बोलता नहीं। कवि की दृष्टि कल्पना की ओर जाती है, जो उत्तर देती है।]

कल्पना—पर इतना तो
मानोगे तुम ?—
कवि सुंदरता के तारों पर
कुछ गीत नए उपजाता है।
सौंदर्य जगाता है
उसके सोए प्राणों की वाणी को,
कवि जाग,
तूलिका ले कर में
बाँधता सदा रेखाओं में
ऊषा के गालों की लाली,

वंकिम चितवन,
रंगीन सुघर परिधानों को !

जीवन—तुम भूल रही
कल्पना देवि !

कल्पना—मैं भूल रही ?
मैं मुक्त गगन-गामिनी
आज क्या भूल रही ?
दुर्बल मानव को सदा
शक्ति देनेवाली कल्पना
आज मैं भूल रही ?

जीवन—हाँ भूल रही
सचमुच ही तुम।
सुंदरता क्या ऊषा में ही,
आकाश-परी में ही केवल ?
सुंदरता क्या,
जो क्षणिक, अनित्य,
पूर्ण नश्वर !
मैं गर्व नहीं करता,
लेकिन देखो मुझको,

मैं अस्त-व्यस्त हो रहा आज,
फिर भी मुझ में सुंदरता है !
यह नहीं तुम्हारे
मुख की मादक सुंदरता,
जो आज रही,
कल चली गई !

कवि—बस रहने दो,
जीवन, अब तुम !
कुछ कहो न मेरी रानी को ।

जीवन—यदि बुरा लगा,
मैं जाता हूँ,
यद्यपि मैं तुमसे
त्राण माँगने आया था ।
पर याद इसे रखना तुम कवि,
तुम जग-जीवन के गायक हो,
तुम भूल न अपनी रानी की
पलकों में ही
जाना सब कुछ !
तुम सुंदरता के तारों से

कुछ सत्य गीत
उपजाने वाले कवि,
सुन लो,
जग देख रहा
आतुर नयनों से आज
तुम्हारी ओर तृषित !
तुम भूल न जाना अधरों की
मादकता में रानी के ही !
मैं जाता हूँ ।

कल्पना—कवि ने कब
तुम्हें बुलाया था ?

कवि—रानी,
क्यों ऐसा कहती हो ?
जीवन तो मेरा साथी है ।

कल्पना—साथी ?—
जो चाह रहा
तुमको भटकाना
कंटक के वन में !
साथी ?—

जो चाह रहा प्रतिपल
उल्लास-हास की नौका को
क्रंदन के गहरे सागर में
बरबस ही आज डुबा देना !
साथी ?—
जो चाह रहा
दुख की ज्वाला में क्षार-क्षार
कर देना अंतर की
मधुमयी उमंगों को !

कवि—कल्पने,
तुम्हें क्या हुआ आज ?

कल्पना—सब सत्य कह रही हूँ मैं, कवि !
पर जाने दो,
प्रिय, देखो तो,
है उड़ी आ रही कौन वहाँ
पूर्वीय क्षितिज की रेखा पर
बिखराए स्वर्णिम केश-राशि ?

[कवि उस ओर देख कर प्रमुदित होता है।]

कल्पना—प्रिय, सुन लो तुम,

कवि

विहगों का कैसा मधुर गान !
ये प्रकृति देवि के नन्हें शिशु
पुलकित हैं इस मधुबेला में,
हैं खेल रहे
पत्रों-पुष्पों पर, फुनगी पर !

कवि—आओ रानी,
हम भी क्षणभर मिलकर गालें।

दोनों—हम मुक्त गगन के पंछी
मिलकर गाएँ मधुमय गीत।
हम भूल चलें, क्या सुख, क्या दुख,
क्या हार और क्या जीत !

तृतीय दृश्य

[प्रभात का समय। सूर्य्य की किरणें चारों ओर बिखरी दिखाई देती हैं। पक्षी नीड़ों से कलरव करते हुए चले जा रहे हैं। कवि एक कुंज में अकेले कुछ उद्विग्न-सा टहल रहा है।]

कवि—संध्या बीती,
अनुराग-भरी रजनी भी तो
परिधान समेटे हाथों में
वेणी के फूलों को बिखरा
हो म्लानमुखी,
मंथर गति से
जाने, किस दिशि को चली गई।
अब आया है
स्वर्णिम प्रभात,
हँसती हैं किरणें जल-थल में,

कवि

सतरंगी आभा ले-लेकर।
हैं चमक रहे
पातों पर के सुन्दर मोती।
हँसते पल्लव,
गा रहे विहग भी पागल हो।
पर मेरा मन
क्यों अबतक शांत न हो पाया ?
झंझा बन आया था
जीवन मेरे ही लिए,
उठा जो गया
लहर हलचल की मेरे उर में,
जो अबतक भी शांत न हो पाई।
मैं समझ नहीं पाता कुछ भी,
मैं कौन ? यहाँ आया क्योंकर ?
मेरे जीवन का लक्ष्य कहाँ ?
कल्पना कह रही है मुझको,
मैं मुक्त, मुक्त, मैं सदा मुक्त,
आकाश-विहारी
विहग सुभग।

क्या सचमुच ही
उड़ता जाऊँ ?
बढ़ता जाऊँ ?
गाता जाऊँ हो मद-विभोर ?
क्या सचमुच ही
सरिता के चंचल जल को मैं
छू-छूकर अपने पंखों से
आनंद-मग्न होता जाऊँ ?
क्या सचमुच ही
खेलूँ प्रतिपल
मैं व्योम-परी के अंचल में ?
क्या सचमुच ही
मैं सदा विचरनेवाला
नभ के आँगन में ?

[उसके पैरों में सहसा एक काँटा गड़ता है। वह खड़ा हो जाता है।]

उफ़ ! शूलचुभा मेरे पग में !
है कौन कह रहा,
मुक्त सदा जगती के

बंधन से मैं हूँ ?
यह सत्य नहीं,
मैं मुक्त विहग,
नभ का गामी।
जीवन ने था
यह सत्य कहा,
इस धरती का प्राणी हूँ मैं,
धरती की मिट्टी से उपजा।
फिर तोड़ चलूँ
धरती से मैं नाता क्यों कर ?

[दूर से हृदय-विदारक हाहाकार-चीत्कार की ध्वनि सुनाई पड़ती है।]

यह रुदन और चीत्कार, आह !
मेरा अंतर फट रहा अभी।
क्रंदन का सागर उमड़ रहा
जग-जीवन के तट से टकरा,
पर मैं उसकी
चंचल लहरों की धड़कन को
सुन क्यों न अभी तक पाया था ?

कवि

जग बिलख रहा
आकुल होकर
आँखों में आँसू भर-भर कर,
पर मेरे उर के तार
न अबतक बज पाए !
है फूट रहा
यह महाप्रलय-सा
दारुण हाहाकार प्रबल,
आश्चर्य मुझे,
मैं जग-जीवन का गायक भी
कुछ सुन न सका।
मेरी प्रियतमा कल्पना ने
मुझको न इसे
क्यों दिखलाया ?
वह कहती थी—
'सुन लो कवि, तुम
यह मधुर गान,
पिक की पुकार,
लहरों का स्वर,

विहगों का रव !'
मैं सुनता था,
पर आज आह !
क्या सुनता हूँ !
सुन कर भी यदि
कुछ कर न सका····

[कुछ दूर पर एक ओर से कुछ अर्द्ध-नग्न पुरुष, स्त्रियाँ और शिशु गाते हुए आते हैं। उनके शरीर की हड्डियां उभरी हुई दिखई पड़ती है, केश उनके रूखे-सूखे हैं, मुख पर विकृति की अनेक रेखाएँ खिची हुई हैं।]

सब—भूख ! भूख !! भूख !!!
हम सभी भूख की
तेज आँच में
है जलते जा रहे !
अन्न के दो दानों के लिए
तड़प कर मरते हम जा रहे !
बदन के गज भर टुकड़े पर
धूप सर्दी के तीखे तीर
सदा हम सहते हैं जा रहे !

पुरुष— हम भूखे, प्यासे, नंगे
नर-कंकालों को
धरती पर चलते आज देख,
अचरज से आँखें फाड़-फाड़,
है सोच रहा
यह आसमान—
'जगती की सुषमाएँ बटोर
एडन के सुंदर उपवन में
जिस प्रथम पुरुष आदम की
रचना की थी धरती माता ने,
क्या ये सब भी
उस आदम के ही बेटे हैं ?'
हम आदम के बेटों की
हालत देख रही
दानी दधीचि, शिवि की
संतानें हँस-हँस कर !
ये ऊँचे-ऊँचे राजमहल
हैं कपिलवस्तु के वैभवशाली
राजपुत्र के वंशज के,

पर उनकी भी छाती
न दरकती तनिक
हमारी आहों से !
हम कंकालों के
शत-शत कंठों का क्रंदन
जाने क्यों,
छू न तनिक पाता
कवि वाल्मीकि के
भावुक शिष्यों का अंतर !
स्त्रियाँ—दुनियावालो,
तुम देख रहे आँखें खोले,
मानवता की जननी श्रद्धा,
सीता, सावित्री, अनुसूया
फुटपाथों पर जा रहीं चली
भूखी-प्यासी,
विक्षुब्ध, विकल !
कोई तो देखे इधर जरा,
यह नवयुग की द्रौपदी
खड़ी दुनिया की भरी सभा मे

नंगी, पागल-सी।
दुःशासन ने सब चीर खींच
है एकत्रित कर रखे कहीं,
यह व्याकुल आज पुकार रही
है अपने कृष्ण मुरारी को,
पर वे है अब इस समय कहाँ ?
वे तो जन्मे थे द्वापर में !

शिशु—हम है दुनिया के नए फूल,
खिलने न कभी जो पाते हैं,
बस जन्म लिया,
झड़ जाते है।
हम एक नई सीढ़ी हैं
अगली दुनिया की,
जिसमे न ईंट-पत्थर तक
कोई देता है !
अचरज होता है,
हमें मिटा
दुनिया यह आगे
भला किस तरह जाएगी !

दुनियावालो,
देखो भी इधर तनिक मुड़कर,
ये सर्वदमन,
लव-कुश प्यारे,
अभिमन्यु वीर
हैं झगड़ रहे
इन कुत्तों से
फुटपाथों पर
बस रोटी के
नन्हे-से टुकड़े पाने को !
सब—भूख ! भूख !! भूख !!!
हम सभी भूख की
तेज आँच में हैं
जलते जा रहे !
अन्न के दो दानों के लिए
तड़प कर मरते हम जा रहे !
बदन के गज भर टुकड़े पर
धूप-सर्दी के तीखे तीर
सदा हम सहते हैं जा रहे !
[आवाज़ धीरे-धीरे मंद पड़ जाती है]

कवि—यह क्षुधित, नग्न, पीड़ित
मनु की संतान, आह !
मैं देख रहा अपने सम्मुख !
ये महादैन्य के मेघ
विश्व के नभ में
छाए हैं कब से,
पर मेरी आँखें उलझ गईं
कल्पना-परी के अलकों में !
मैं मुग्ध हुआ
रानी के मुख पर ऐसा जो
मुड़कर कुछ देख नहीं पाया
मानवता के रोते मुख पर !
मैं मानव-जीवन का कवि हूँ,
यदि मैं इसकी
गीली पलकों के
आँसूकण को
पोंछ नहीं पाता हूँ, तो····

[कुछ दूर पर एक ओर से घुटने तक गंदे कपड़े लपेटे, कुछ अधनंगे किसान कंधे पर हल लिए आते हैं।]

किसान—हम मानवता को
अन्न-वस्त्र देनेवाले
केवल आशा के टुकड़ों पर
हैं टिके हुए।
गर्मी में जल,
जाड़े में गल,
हम अपने गरम-गरम
लोहू से सींच-सींच
हर साल सुनहली
नई फसल उपजाते हैं,
लुट जाती है जो कटते ही,
बस छनभर में
तुल जाती है
सारी किस्मत खलिहानों में!
हम तड़प-तड़प रह जाते हैं
आँसू का खारा जल पीकर।
मिलती न सबेरे-साँझ

नमक-रोटी इतनी,
जिससे बुझ पाए भूख तनिक !
फिर भी हम जीते जाते हैं
गा-गाकर ढोल-मँजीरों पर
भगवान राम का नाम मधुर !

[उनके पीछे काली फटी जाघियाँ और कमीज पहने मजदूर आते है।]

मजदूर—कंकाल मात्र !
निष्प्राण जीव हम जगती के !
मूर्च्छा की गति में ही
प्रतिपल हम चलते है।
हम पिसते जाते हैं
काले इस्पात-प्रेत के दाँतों से
जो अट्टहास करता रहता है
शहरों में,
जिसकी आँखों में
लाल-लाल भट्ठियाँ
जला करतीं प्रतिपल,
जो मांस, रुधिर, हड्डियाँ

हमारे तन का सारा जला-जला
उगला करता है
धुँआ सदा
अपनी राक्षसी चिमनियों से !
[आवाज धीरे-धीरे मंद पड़ जाती है ।]

कवि—ये हृदय-विदारक दृश्य, आह !
ये मानव-जीवन की
सुविधाओं के स्रष्टा
हैं खड़े नाश के
उच्च कगारे पर आकर !
मैं कवि हूँ,
जग का गायक हूँ,
गाकर मैं अपने गीतों को
चेतना नई
उनके अंतर में जाग्रत कर
क्या उनको उनकी शक्ति
न दिखला पाऊँगा ?

[एक ओर से कुछ चमकते हुए सूट पहने, कुछ साफ़ साफ़ धोती-कुर्त्ता-पहने विद्वान् व्यक्ति बगल में मोटी-मोटी पुस्तकें दबाए आते हैं।]

विद्वान्—हम एवरेस्ट पर विद्या के
है पहुँच चुके,
जो दान चाहते हैं,
वे सब ऊपर आएँ।
हम कालिदास के, तुलसी के,
मतिराम, बिहारी के पंडित,
हम शेक्सपियर,
शेली, शा के अध्येता हैं,
हमने हैं फ्रायड
और मार्क्स सब पढ़ डाले,
जो दान चाहते हों
हमसे विद्याओं का,
ऊपर आएँ।
[आवाज धीरे-धीरे मंद पड़ जाती है।]

कवि—कैसा है यह आत्माभिमान!
जब जन-समाज की पृथ्वी पर

है बिखरा तिमिर अशिक्षा का,
तब विद्या के ये ज्योति-पुंज
हैं क्यों न उतर आते
जगती की धरती पर ?

[आकाश में दो-चार वायुयान आकर मँडराने लगते है। एक ओर से आवाज आती है—

मानव-स्वार्थों के वायुयान
विध्वंसक ऐटम बम लेकर
विस्तृत नभ में घहराते है।
ये जहाँ परस्पर टकराए,
बस महानाश
धरती पर आकर खेलेगा !]

कवि—आश्चर्य ! आह !
गौतम, ईसा, पैगंबर, गाँधी की
संतानों के उर में
यह घृणा, द्वेष, औ'
स्वार्थ-सिद्धि की अग्नि-शिखा
फूत्कार कर रही है अबतक !
मैं देख रहा
इस अस्त-व्यस्त

जग का जीवन,
जिसके खँडहर में महामृत्यु
कर रही आज तांडव-नर्त्तन !
भस्मासुर बन कर प्रखर ज्ञान
परमाणु शक्तियाँ ले-लेकर
है दौड़ रहा
दानव जीवन-शिव के पीछे !
संस्कृति की साँसें घुटती हैं
वैषम्य-जलधि में क्षुब्ध, त्रस्त !
ये राजनीति,
ये धर्म सभा,
ये रीति-रूढ़ियाँ,
स्वार्थ, कलह, विद्वेष आदि
कच्छप औ' मत्स्य बने अगणित
हैं नोंच रहे उसके तन को।
मैं कवि हूँ,
उसको मुझे मुक्त करना होगा।
मैं चलूँ, मिलूँ
अपने साथी प्रिय जीवन से,

पर उससे रानी से
न बनेगी पल भर भी।
तब ठुकरा दूँ
रानी को क्या ?
ना, यह भी संभव कहाँ भला ?
वह आई है
मेरे सूनापन को भरने
कुछ सरस मधुरिमा लाई है
मेरे सूखे से कानन में।
पर राही मैं
क्या भूल चलूँ
अपने पथ को ?
यह भी कैसे ?
जग की आतुर आँखें
हैं मुझको देख रही,
जग के क्रंदन-चीत्कार
मुझे हैं बुला रहे !
मेरे जीवन की संगिनि यह
कल्पना देवि

क्या बाधक होगी
मेरे ही पथ की गति में ?

कल्पना (निकट आती हुई)—

प्रात सहसा हुआ, यह किरण हँस चली !
वृंत पर झूम कर
के उठी वह सिहर,
होंठ काँपे सुघर,
वात सहसा चला, यह कली हँस खिली !

कवि—कल्पने,
मत्त हो गाती क्या ?

कल्पना—बोलो मत कवि,
तुम मुझे छोड़ कर वहाँ भला
क्यों घूम रहे इस उपवन में ?

कवि—सग तुम्हारे उड़ने में
मैं आज हो रहा विवश प्रिये !

कल्पना—क्यों कर प्रियतम ?

कवि—मैंने देखा है
आज विश्व का सत्य रूप !
मैंने है अब चीत्कार सुना,

जगती का हाहाकार सुना,
मैं सह न सकूँगा उसे देवि !

कल्पना—क्या कहते हो
मेरे प्रियतम ?
तुम मेरे हो,
मैं जा न सकूँगी और कहीं ।
पर तुम इतने
क्यों चिंतित हो ?

कवि—मैं चिंतित हूँ सचमुच रानी !
जग का दुख मुझको
दग्ध कर रहा है प्रतिपल ।

कल्पना—चिंतित मत हो
मेरे प्रिय कवि !
मैं अब न उड़ाऊँगी तुमको
नभ में ऊपर !
यदि अबतक थी
मद-भरी रागिनी
मैं पागल बेसुध कवि की,
तो ज्वाला आज बनूँगी

अपने जागरूक युग के कवि की,
जिसका अंतर हो रहा द्रवित
जगती के हाहाकारों से !
कवि की वाणी से
क्रांति-शिखा बन निकलूँगी,
कर दूँगी पल में भस्म
कलुष, वैषम्य, द्वेष का
राज्य वृहत् !
फिर रच दूँगी संसार नया,
जिसमें समता, विश्वास,
प्रेम के बीच सदा
मनुकी सतानें खेलेंगी !
किलकारों से तब
गूँजेगा जग का आँगन !
धरती माता नीचे
सुख से मुस्काएगी,
ऊपर से नभ
अमृत के कण बरसाएगा।

कवि—मैं आज धन्य हो गया प्रिये,

तुम-सी जीवन-संगिनि पाकर !
आओ,
हम दोनों संग चलें,
जीवन का फिर निर्माण करें
अनुपम, नूतन !
दोनों—हम पथ के राही चले आज
कुछ जग के स्वर में गाने !

जग का यह हाहाकार उठा,
दुख का यह पारावार उठा,
फैला कर के अपने फण को
यह दैन्य-सर्प फूत्कार उठा,
हम चले बाँसुरी बजा आज
उसको अब शांत बनाने !

हम मिट्टी के नन्हें पुतले,
हम मिट्टी के कण से निकले,
मिट्टी से जीवन-रस लेकर
हम मिट्टी पर ही आज खिले,
हम चले आज मिट्टी के कण
पर अनुपम स्वर्ग बसाने !

**

दो वक्तव्य

श्री अमृत राय

आप जानते ही हैं कि काव्य-कला से मेरा दूर का भी संबंध नहीं है। इसलिए मैं जो कुछ लिखूँगा, वह एक सामान्य पाठक के नाते ही। इसके कला-पक्ष के संबंध में कहने का अधिकारी मैं तनिक भी नहीं हूँ। जैसा कि आपने स्वयं ही अपने वक्तव्य में कहा है, 'कवि की यह समस्या कि वह जन-जीवन से निरपेक्ष स्वप्निल नील गगन में ही आनन्द से विचरण करे अथवा युग की अस्तव्यस्त परिस्थितियों के प्रति जागरूक हो कर उनके पुनर्निर्माण का प्रयत्न करे' बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमारे हिंदी-साहित्य में भी 'कला कला के लिए' के सिद्धांत को माननेवाले रहे हैं और अब भी हैं। लेकिन युग की नंगी वास्तविकताओं ने, जिनसे कलाकार को भी दो चार होना पड़ता है, इस सिद्धांत के माननेवालों की संख्या काफी कम कर दी है। यहाँ तक कि अब यदि आप ऐसे कलाकारों की सूची बनाने चलें तो शायद ही कोई ऊँचा कलाकार आपको मिलेगा। मोटे रूप में यह

बात अब सर्वमान्य हो चुकी है कि कला जीवन के लिए होती है, समाज के लिए होती है, मनुष्य मात्र को उन्नत बनाने के लिए होती है, जीवन को समाज में और निखारने के लिए और मनुष्य की वृत्तियों के संस्कार के लिए होती है। आपने अपने गीतिनाट्य में भी इसी सत्य की विजय दिखाई है। मैं समझता हूँ कि जीवन के लिए कला की उपयोगिता माननेवालों के लिए अब उनके कला के क्षेत्र में एक नये संघर्ष की भूमिका तैयार हो गई है। वह संघर्ष यही है कि जीवन का, संघर्ष का, आज की वास्तविकताओं का प्रवेश किस प्रकार कला के अन्दर कराया जाय। बहुत बार यह देखा जाता है कि 'कला जीवन के लिए' माननेवाले समस्याओं को इस रूप में अपनी कला में लाते हैं कि वह ऊपर से बैठाली गई या लादी गई-सी चीज जान पड़ती है। आवश्यकता इस बात की है कि जीवन और कला का अंगांगि-संबंध दिखाया जाय और उसके लिए आवश्यक है कि युग की समस्याओं की गहराई में पैठा जाय। तभी ऐसी कला की रचना हो सकती है, जो युग की सामयिक समस्याओं का उत्तर भी दे सकती है और साथ ही उसमें कला का अमरत्व भी आ सकता है।

इस दृष्टि से मैं समझता हूँ कि आज हम सभी नये कलाकारों के सम्मुख परीक्षा की घड़ी उपस्थित है। हम जिस सीमा तक अपने मध्यमवर्गीय संस्कारों और परिस्थितियों से जूझ कर सचमुच शोषित जनता के साथ अपने आपको मिला सकेंगे, उसी सीमा तक हमारी कला में प्राण का आवेग आएगा।

❀ ❀ ❀

श्री नलिनविलोचन शर्मा

यथार्थवाद के इस युग में 'गीतिनाट्य' की लोकप्रियता सर्वथा अप्रत्याशित किंतु प्रमाणित सत्य है। यह यथार्थवाद की स्वाभाविक प्रतिक्रिया हो सकती है, और परिस्थितियों की उपज तो है ही, किंतु इसकी संभावना कुछ दिनों पूर्व भी कोई नहीं कर सकता था। अभी-अभी तो नाटक के क्षेत्र से अस्वाभाविक काव्यत्व के बहिष्कार का आंदोलन सफल हो हुआ था—हिंदी में तो आज तक वह अपूर्ण है—कि प्रतिशोध के साथ वह पुनः प्रतिष्ठित हो गया!

इब्सन और शा ने भगीरथ-प्रयत्न के बाद नाट्यकला में स्वाभाविकता और यथार्थता के समावेश में स्थूलता प्राप्त की थी। किंतु, कहा जा सकता है, उनके

सारे किए-कराए पर पानी फेर कर, कुछ कवियों ने सर्वथा बहिष्कृत गीति-नाट्य को रंगमंच पर लौटा लिया है। इसके ज्वलंत उदाहरण अंग्रेजी के सबसे महान् जीवित कवि टी० एस० एलिएट हैं, जिनका नवीनतम गीति-नाट्य, द कॉकटेल पार्टी (The Cocktail Party) दुर्बोध और प्रयोगात्मक शैली में रचित होने पर भी, न्यूयार्क और लंदन में सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रशंसित अभिनीत नाटक सिद्ध हो रहा है। इस विषय में यहाँ इतना भर और कहना पर्याप्त होगा कि एलिएट अपवाद नहीं हैं, अपितु एक सबल प्रवृत्ति के प्रवर्त्तक हैं, जिसका दूसरे कवि भी असंदिग्ध सफलता के साथ अनुगमन कर रहे हैं। ऐसे कवियों में इशरवुड, आडेन और क्रिस्टोफर फ्राइ उल्लेखनीय हैं—अंतिम सबसे अधिक।

हिन्दी में भी साहित्य के इस रूप के प्रति पुनः कवियों का ध्यान गया है—बहुत दूर तक रेडियो की और एक हद तक युग की आवश्यकता की पूर्त्ति के निमित्त। सिद्धनाथ कुमार का 'कवि' इस साहित्यिक प्रवृत्ति का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

इधर हिंदी के कुछ अन्य कवियों ने भी प्रशंसनीय

गीतिनाट्य लिखे हैं। इनमें 'प्रभात' उल्लेखनीय है, जिनके 'संवर्त्त' और 'कालदहन' के अभिनय के लिए मैंने नाट्य-प्रेमी मित्रों से कहा तो, किंतु उन्होंने इसे शायद सर्वथा अव्यावहारिक समझ कर इस दिशा में कुछ किया नहीं। सिद्धनाथ कुमार का 'कवि' रेडियो से सफलतापूर्वक प्रसारित हो चुका है, किंतु इसकी भी सार्थकता तभी है, जब यह रंगमंच पर अभिनीत किया जाए। मुझे आशा है, 'कवि' का अभिनय सुसंस्कृत नाट्य-प्रेमी शीघ्र आयोजित करेंगे।

हिंदी के गीति-नाट्य के लेखकों के बारे में जहाँ यह सत्य है कि उन्होंने विदेशी साहित्य से प्रभावित हुए बिना ही युग-चेतना से अपना परिचय दिखाया है, वहीं यह कहना भी असमीचीन नहीं कि वे इस साधन का यथोचित उपयोग नहीं कर रहे हैं। यथार्थता पद्य को नहीं, बल्कि पद्य से साधारणतः अविच्छेद्य भावुकता को बहिष्कृत करना चाहती है। यदि हिंदी के कवि इस तथ्य को नहीं समझेंगे, तो हमारे यहाँ गीति-नाट्य पुनरागत होने पर भी, हिंदी कविता की तरह, साहित्य का एक क्लीव रूप भर रह जायगा।

रामसिंहासन राय 'उन्मुक्त'

का

अभिनव गीतिनाट्य

मांस का विद्रोह

यह बापू के जीवन-दर्शन और उनके निधन पर लिखी गई एक सुन्दर गीति-नाटिका है, जिसमें सत्य, पुरुष, प्रकृति, जड़ता, हिंसा आदि रूपक पात्रों के वार्तालापों के द्वारा उस सन्देश को कलात्मक ढंग से रक्खा गया है, जिसके अनुसार बाह्य पर अन्तर की विजय (मांस पर आत्मा की विजय) को ही मानव-संस्कृति का मूल सूत्र बताया गया है।

—संगम (प्रयाग)

यह छोटा गीतिनाट्य उदार भावों से परिपूर्ण, पठनीय और संग्रहणीय है।

—साहित्य-संदेश (आगरा)

मूल्य १)

विक्रेता—

पुस्तक-मंदिर, बक्सर (आरा)

समस्याओं के प्रति सचेतन बनकर अपनी कृतियों में उनका सजीव चित्रण करेगा ? एक ओर कल्पना का प्रलोभन और दूसरी ओर जीवन की वास्तविकता का आह्वान, इन दोनों के बीच कवि-हृदय का अन्तर्द्वन्द्व जिस रूप में इस गीतिनाट्य में दिखलाया गया है, वह प्रशंसनीय है। कवि की रानी कल्पना, जो अबतक "नभ में, सरिता में, सागर में, मृदु इन्द्रधनुष के पंखों पर धर चपल चरण उस अमर लोक के तारों से इस धरती के तारों को जोड़ा करती थी," वही अब कवि को 'नभ में ऊपर नहीं उड़ायगी," बल्कि "कवि की ज्वाला बन कर उसकी वाणी से क्रान्ति-शिखा बन कर निकलेगी।" इसलिए दोनों पथ के राही बन कर अब जग के स्वर में धरती के गाने गायेंगे और मिट्टी के कणों से स्वर्ग-राज्य की रचना करेंगे। 'कवि' की रचना-शैली प्रवाहपूर्ण एवं प्रसाद-गुण-विशिष्ट है।

—जगन्नाथ प्रसाद मिश्र
संपादक, 'राष्ट्रवाणी'

'कवि' के संबंध में--

आचार्य शिवपूजन सहाय

भाव और भाषा के सौंदर्य और सौकर्य्य की दृष्टि से 'कवि' एक मनोहर गीतिनाट्य है। इसमें कवि अथवा साहित्यकार के जीवन से संलग्न और उसकी विचारशीलता के समक्ष उपस्थित महत्वपूर्ण समस्या का विवेचन एवं समाधान किया गया है। नाट्यकार की दृष्टि कल्पना के सूक्ष्म आकाश की ओर न होकर लोकहित के ठोस धरातल पर है, यह नवयुग की पुकार और प्रवृत्ति के अनुकूल ही है।

* * * *

डा० रामविलास शर्मा

मूलतः आपका दृष्टिकोण अभिनन्दनीय है। सामाजिक जीवन से दूर रहनेवाले विद्वानों का चित्रण विशेष अच्छा बन पड़ा है (पृ० ४२)। अधिकांश नवयुवक कवियों के मन में उठनेवाली समस्याओं पर लिखकर आपने जागरूकता का परिचय दिया है। आपकी भाषा में यथेष्ट व्यंजना-शक्ति है, यह जगह-जगह स्पष्ट है, विशेषकर मज़दूरों के जीवन के वर्णन में (पृ० ४०)।..... मुझे विश्वास है कि आप निरंतर उन्नति करेंगे और हिन्दी के एक सशक्त कवि के रूप में सामने आयेंगे। मैं आपके कवि-जीवन की सफलता चाहता हूँ।

* * * *

प्रो० नलिन विलोचन शर्मा

मुझे आशा है, 'कवि' का अभिनय सुसंस्कृत नाट्य-प्रेमी शीघ्र आयोजित करेंगे।

—::०::—